दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक छठवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

आश्विन
२४७८

सिद्ध और सम्यक्त्वी

सम्यग्दर्शन प्रगट होने से आत्मा का अनुभव होता है। जैसा अनुभव सिद्ध भगवान को होता है, वैसा ही चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वी जीव को होता है; सिद्ध को पूर्ण अनुभव होता है और सम्यक्त्वी को अंशतः अनुभव होता है, परन्तु जाति तो वही है। सम्यक्त्वी आनंद-सागर के अमृत का अपूर्व स्वाद ले रहा है, आनंद के स्रोत में निमग्न है।

—समयसार प्रवचन से

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१०

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?
- राग-द्वेष का मूल प्रेरक कौन है ?
- मूरख जीव को श्रीगुरु का उपदेश
- सोनगढ़ में पर्यूषण-पर्व [समाचार]
- श्री समयसार की छट्ठी-सातवीं गाथा में आ जाने-वाले व्यवहारनय के चार प्रकार और निश्चय के आश्रय से उनका निषेध
- 'वंदित्तु सव्वसिद्धे'
- अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

अहो! यह बात कभी नहीं सुनी!

आजकल धर्म के नाम पर बहुत फेरफार दिखलाई देता है। पुण्य से और पर से धर्म माना जाता है। अनादिकाल से जीव जो मानता आ रहा है, उससे आत्मधर्म की बात पृथक् है। सत्य बात तो जैसी है, वैसी कहना पड़ती है और उसे मानने से ही उद्धार है। सत्य को हलका-सस्ता करके (विपरीत) नहीं रखा जाता। कोई कहे कि यह तो बहुत उच्च प्रकार की बात है! तो ऐसा नहीं है, क्योंकि यह तो धर्म की इकाई है।

पुण्य-पाप मेरे, शुभभाव करने से धीरे-धीरे धर्म होगा—ऐसी विषैली मान्यता का अर्थात् राग-द्वेष-अज्ञानभाव का वीतराग के निर्दोष वचन विरेचन करा देते हैं। मोक्षार्थी को किसी भी बंधनभाव का आदर नहीं होना चाहिए।

आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विरुद्धभाव को कोई धर्म कहे तो वह विकथा है। सत्य बात अज्ञानी को कठिन मालूम होती है क्योंकि पहले कभी नहीं सुनी है, तथा कदाग्रही को विरोधरूप भी मालूम होती है; किन्तु सरल और जिज्ञासु जीव तो अपनी शुद्धता की बात सुनकर हर्ष से नाच उठता है, और कहता है कि अहो! ऐसी बात मैंने कभी भी नहीं सुनी!

धर्म के लिये आत्मा को पुण्यादि पराश्रय की आवश्यकता प्रारम्भ में भी नहीं है। यथार्थ समझ के बिना व्रत, तप आदि से पुण्य बाँधकर जीव नवमें ग्रैवेयक तक गया; तथापि स्वतंत्र आत्मस्वभाव को नहीं जाना, इसलिये उसका भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

—समयसार-प्रवचन से

आत्मधर्म

आश्विन २४७८ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक छठवाँ

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

लेखांक तीन] [गतांक से पूर्ण

आत्मा कैसा है–उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा अनंत धर्म वाला है, और उसे जानने वाले ज्ञान में अनंत नय हैं। अनंत धर्मों वाले आत्मा को स्वीकार करने में ज्ञान का अनंत पुरुषार्थ आता है। किन्हीं इन्द्रियों से या राग से अनंत धर्मों वाले आत्मा का स्वीकार नहीं हो सकता, स्वसन्मुख हुए ज्ञान में से ही अनंत धर्मों वाले आत्मा का यथार्थ स्वीकार होता है। साधक जीव का श्रुतज्ञानप्रमाण है, वह अनंत नयों वाला है और वह स्वानुभव से अपने अनंत धर्मात्मक आत्मा को जानता है।

ज्ञान के पाँच प्रकारों में से श्रुतज्ञान में ही नय होते हैं, अन्य किसी ज्ञान में नय नहीं होते।

शंका—श्रुतज्ञान में ही नय क्यों ?—दूसरे ज्ञान में नय क्यों नहीं होते ?

समाधान—मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल—इन पाँच प्रकार के ज्ञान में अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष हैं और मति–श्रुतज्ञान परोक्ष हैं; अब, जो नय है, वह परोक्षज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान का अंश तो प्रत्यक्ष ही होता है, इसलिये उसमें नय नहीं होते। केवलज्ञान पूर्ण स्पष्ट प्रत्यक्ष है और अवधि तथा मन:पर्यय ज्ञान भी अपने–अपने विषय में प्रत्यक्ष हैं; इसलिये उन प्रत्यक्ष ज्ञानों में परोक्षरूप नय नहीं होते।

मतिज्ञान यद्यपि परोक्ष है, परन्तु उसका विषय अल्प है; वह मात्र सांप्रतिक अर्थात् वर्तमान

पदार्थ को ही विषय करता है, सर्वक्षेत्र और सर्वकालवर्ती पदार्थों को वह ग्रहण नहीं करता इसलिये उसमें भी नय नहीं पड़ते; क्योंकि पूर्ण पदार्थ के ज्ञानपूर्वक उसमें भाग करके जाने, उसे नय कहा जाता है।

श्रुतज्ञान अपने विषयभूत समस्त क्षेत्र-कालवर्ती पदार्थों को परोक्षरूप से ग्रहण करता है, इसलिये उसी में नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान में भी जितना स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो गया है, उतना तो प्रमाण ही है, और जितनी परोक्षता रही है, उसमें नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष ही नहीं है, स्वसंवेदन में वह अंशतः प्रत्यक्ष है; ऐसे स्वसंवेदनपूर्वक ही सच्चे नय होते हैं। श्रुतज्ञान, केवलज्ञान की भाँति समस्त पदार्थों को भले न जाने, परन्तु अपने विषय के योग्य पदार्थ को सकल काल-क्षेत्रसहित पूर्ण ग्रहण करता है, और उसमें एकदेशरूप नय होते हैं।

इसप्रकार, जो ज्ञान परोक्ष हो और सर्व क्षेत्र-कालवर्ती पदार्थ को ग्रहण करता हो, उस ज्ञान में ही नय होते हैं;—ऐसा तो श्रुतज्ञान है; इसलिये उसी में नय होते हें। तीन ज्ञान तो प्रत्यक्ष हैं—स्पष्ट हैं, और मतिज्ञान का विषय अल्प है, इसलिये उस किसी भी ज्ञान में नय नहीं होते।

'श्रुतज्ञान त्रिकाली पदार्थ को परोक्ष जानता है, इसलिये उसी में नय होते हैं'—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है, उसमें सूक्ष्म रहस्य है; उसमें से ऐसा न्याय भी निकलता है कि द्रव्यार्थिक मुख्य है और पर्यायार्थिक गौण है। त्रिकाली पदार्थ का ज्ञान हो, तभी उसके अंश के ज्ञान को पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। जब द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाली द्रव्य को जाना, तब उसके पर्यायरूप अंश को जाननेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा गया। त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख होकर उसे जाना, तभी उसके अंश के ज्ञान को व्यवहारनय कहा गया । त्रिकाली के ज्ञान बिना अंश के ज्ञानरूप व्यवहारनय नहीं होता। इसलिए यह बात निश्चित हुई कि निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता, द्रव्य के ज्ञान के बिना पर्याय का ज्ञान नहीं होता। व्यवहारनय तो अंश को जानता है; अंश किसका ? त्रिकाली पदार्थ का। तो उस त्रिकाली पदार्थ के ज्ञान बिना उसके अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। श्रुतज्ञान भी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की ओर ढले, तभी उसमें नय होते हैं। त्रिकाली के ज्ञान बिना अकेली पर्याय को या भेद को जानने जाये तो वहाँ पर्यायबुद्धि का एकान्त हो जाता है, मिथ्यात्व हो जाता है, उसमें नय नहीं होते। आत्मा नित्य है; शुद्ध है—ऐसा जाननेवाले नय त्रिकाली पदार्थ के ज्ञान बिना नहीं होते। और शुद्धता, नित्यता आदि को जाने बिना मात्र अशुद्धता को या अनित्यता को जानने जाये तो वहाँ एकान्तमिथ्यात्व हो जाता है, इसलिये वहाँ व्यवहारनय भी नहीं होता।

यहाँ साधक के नयों की बात है। साधक को केवलज्ञान नहीं होता; साधक के चार ज्ञान में श्रुतज्ञान सामर्थ्य अधिक है; अवधि-मन:पर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, तथापि उनका विषय अल्प है, और श्रुतज्ञान परोक्ष है, तथापि उसका विषय अति विशाल है; श्रुतज्ञान अपने विषयभूत पदार्थ के सर्व क्षेत्र-काल को जानता है। ऐसे श्रुतज्ञान में अनंत नय हैं। यहाँ पर को जानने के नयों की बात नहीं है परन्तु अपने आत्मा को जाननेवाले नयों की बात है। साधक जीव अपने आत्मा को नयों द्वारा कैसा जानता है, उसका यह वर्णन है।

'अस्तित्व-नास्तित्व' नाम के नय से देखने पर आत्मा अस्तित्व-नास्तित्ववाला है। स्व से अस्तित्व और पर से नास्तित्व वस्तु में एक-साथ ही है; ज्ञान भी एक समय में ही उसे जानता है और वाणी द्वारा वह कथंचित् कहा भी जा सकता है; इसप्रकार सप्तभंगी के तीसरे बोल में 'अस्ति-नास्ति' धर्म कहा। वाणी द्वारा अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते इसलिये अवक्तव्य है—यह बात आगे आयेगी। यह वक्तव्य का बोल है; अस्ति-नास्ति दोनों धर्म ज्ञान में एकसाथ आ जाते हैं और वाणी द्वारा वे क्रम करके कहे भी जा सकते हैं, ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व नाम का आत्मा का धर्म है।

वाणी में क्रम पड़ता है परन्तु ज्ञान और वस्तु के धर्म तो अक्रम हैं। अस्ति, नास्ति—ऐसा कहने में क्रम पड़ते हैं परन्तु वाच्यरूप वस्तु में वे धर्म कहीं क्रमानुसार स्थित नहीं हैं; वस्तु में तो समस्त धर्म एकसाथ हैं। द्रव्य में अनंत धर्म एकसाथ ही हैं, अनंत धर्मों का भाव एकसाथ वर्तता है, वहीं द्रव्य है, ज्ञान में भी अनंत धर्म एकसाथ नहीं आ सकते परन्तु क्रम पड़ता है; वाणी से समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते किन्तु अमुक धर्मों का ही वर्णन हो सकता है; इसलिये शब्द की ओर देखने से वस्तु पकड़ में नहीं आ सकती, परन्तु ज्ञान को अंतरोन्मुख करके वस्तुस्वभाव को पकड़े, तभी वस्तु समझ में आ सकती है। इन ४७ नयों से ४७ धर्मों का वर्णन किया है, उसका तात्पर्य एक-एक धर्म के भेद सन्मुख देखने का नहीं है परन्तु ऐसे अनंत धर्मों को धारण करनेवाले चैतन्य द्रव्य को लक्ष में लेकर उसका अनुभव करना ही तात्पर्य है।

[यहाँ अस्तित्व-नास्तित्वधर्म का वर्णन पूर्ण हुआ]

☆☆☆

[६] अवक्तव्य नय से आत्मा का वर्णन

'आत्मद्रव्य अवक्तव्यनय से युगपद् स्व-पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है।'

[यहाँ तीर का दृष्टान्त है, वह मूल में देखें]

स्वचतुष्टय से अस्तित्व और परचतुष्टय से नास्तित्व, ऐसे दोनों धर्म युगपद नहीं कहे जा सकते। 'स्व से अस्ति है'—ऐसा कहने से उसी समय दूसरे नास्तिधर्म का कथन बाकी रह जाता है और 'पर से नास्ति है'—ऐसा कहने से उसी समय दूसरे अस्तिधर्म का कथन बाकी रह जाता है; इसप्रकार वाणी द्वारा दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते, इसलिये आत्मा अवक्तव्य है। सर्वथा अवक्तव्य नहीं है परन्तु दोनों धर्म युगपद नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से अवक्तव्य है; क्रमशः तो कहे जा सकते हैं, उस अपेक्षा से वक्तव्य है। वस्तु में दोनों धर्म एकसाथ ही हैं। अवक्तव्यनय से वस्तु को अवक्तव्य कहा, उसीसमय वस्तु में कथंचित् 'वक्तव्य' धर्म भी है, उसे यदि स्वीकार न करे तो अवक्तव्य नय भी मिथ्या है। अनंत धर्मवाली पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक उसके एक-एक धर्म का ज्ञान, वह नय है।

'अवक्तव्य'—ऐसा शब्द वाचक है और उसके वाच्यरूप भाव, वह आत्मा का अवक्तव्य धर्म है। 'अवक्तव्य'—ऐसे शब्द में आत्मा का अवक्तव्य धर्म नहीं भरा है; वह धर्म तो आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा कितना ?—एकसाथ अनंत धर्मों को अपने में धारण कर रखे उतना। किसी भी अन्य की सहायता के बिना स्वयं अपने स्वभाव से ही अनंत धर्मों वाला है। इतने महान अनंत महिमावान अपने आत्मा को प्रतीति में ले, तभी सम्यक्-श्रद्धा कहलाती है। इतने महान धर्मी को स्वीकार करे, तभी उसके आश्रय से धर्म का प्रारम्भ होता है। प्रत्येक आत्मा अनंत धर्मों वाला धर्मी है, उसे स्वीकार करनेवाली श्रद्धा भी उतनी ही महान और गंभीर है। वह श्रद्धा किसी निमित्त के अथवा राग के आश्रय से नहीं होती परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही होती है। ऐसे आत्मा की स्वीकृति बिना 'आत्मा तो अखण्ड है, शुद्ध है'—ऐसा ऊपर-ऊपर से सुनकर माने तो उसे आत्मा की जितनी महिमा है, उतनी भासित नहीं होगी; इसलिये उसकी श्रद्धा अपूर्ण-पतली-मिथ्या है। जितने अनंत धर्मों वाला आत्मा केवलज्ञान में ज्ञात होता है, उन समस्त धर्मों वाला आत्मा सम्यक्श्रद्धा की प्रतीति में आ जाता है। श्रद्धा, धर्मों के भेद नहीं पाड़ती, किन्तु अभेद आत्मा की प्रतीति में उन समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। अनंत धर्मों के स्वीकारपूर्वक अभेद आत्मा की श्रद्धा करती है। जो जीव अपने आत्मा को अनंत धर्मवाला स्वीकार करे, वह जीव क्षणिक रागादि भावों जितना ही अपने को माने तो अनंत धर्मों वाले आत्मा को स्वीकार नहीं कर सकता; इसलिये

अनंत धर्मों वाले आत्मा की यथार्थ स्वीकृति में तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आ जाते हैं।

जो आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वधर्मवाला है, वही आत्मा पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्वधर्मवाला है, वही आत्मा एकसाथ दोनों धर्मों वाला होने से अस्तित्व-नास्तित्वधर्मवाला है; और वे दोनों धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वही आत्मा अवक्तव्यधर्मवाला है;—इसप्रकार सप्तभंगी के चार भंग कहे। देखो! यह अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी है, वह वीतरागदेव कथित आत्मद्रव्य को पहिचानने का चिह्न है, उसके द्वारा अपने आत्मा को पर से भिन्न और अपने अनंतधर्मों से एकमेक पहिचान लेना चाहिए। यह सप्तभंगी तो प्रत्येक पदार्थ में लागू होती है, परन्तु इस समय तो आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है, इसलिये आत्मा पर सप्तभंगी को उतारा है।

सप्तभंगी के चार भंग कहे; अब पाँचवाँ भंग कहते हैं : ४७ धर्मों के क्रम में यह सातवाँ धर्म है:—

[७] अस्तित्व-अवक्तव्यनय से आत्मा का वर्णन

जो अनंतधर्मों वाला आत्मद्रव्य है, वह अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपद् स्व-पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-अवक्तव्य है। [यहाँ तीर का दृष्टान्त है, वह मूल में देख लें।]

यह अस्तित्व, नास्तित्व आदि सातों प्रकार के धर्म वस्तु के स्वभाव में हैं; अस्तित्व और नास्तित्व—यह दो ही धर्म वस्तु में हैं और अन्य पाँच धर्म नहीं हैं—ऐसा नहीं है। यदि वस्तु में सातों धर्म न हों तो उनका कथन भी न हो, क्योंकि जो वाचक है, वह वाच्य को बतलाता है।

(१) वस्तु स्व-रूप से है,—ऐसा अस्तित्व कहा जा सकता है।

(२) वस्तु पररूप से नहीं है,—ऐसा नास्तित्व कहा जा सकता है।

(३) वस्तु स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है,—ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व क्रम से कहा जा सकता है।

—इसप्रकार प्रथम तीनों भंग वक्तव्य में आते हैं।

(४) वस्तु स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है,—इसप्रकार दोनों एकसाथ नहीं कहे जा सकते, इसलिये अवक्तव्य है।

(५) 'वस्तु स्व-रूप से है'—ऐसा अस्तित्व का कथन करने से, 'वस्तु पररूप से नहीं

है'—ऐसा नास्तित्व का कथन बाकी रह जाता है, 'अस्तित्व' कहा जा सका, परन्तु दोनों एकसाथ नहीं कहे जा सके, इस अपेक्षा से वस्तु अस्तित्व-अवक्तव्य है।

अस्तित्व और अवक्तव्य—यह दोनों धर्म एकत्रित करके यह धर्म कहा है—ऐसा नहीं है; परन्तु अस्तित्व और अवक्तव्य—इन दोनों के अतिरिक्त यह भी एक स्वतंत्र धर्म है। ज्ञान के अनंत नयों में अस्तित्वनय आदि सात नय भिन्न-भिन्न हैं और उन सातों नयों के विषयभूत सात धर्म वस्तु में भिन्न-भिन्न हैं।

'अस्तित्व' कहने से वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, यह चारों एकसाथ आ जाते हैं। मैं आत्मा हूँ, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हूँ; इसप्रकार अस्तित्व को जाना, उसी क्षण 'मैं पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं हूँ'—ऐसा नास्तित्व का ज्ञान भी साथ ही पड़ा है। वस्तु में समस्त धर्म एकसाथ हैं; प्रमाणज्ञान में सब एकसाथ ज्ञात होते हैं, परन्तु वाणी में एकसाथ नहीं कहे जा सकते। आत्मा स्व-रूप से है—ऐसा कहा, उसी समय आत्मा में दूसरे अनंत धर्म हैं, उनका कथन नहीं हो सका—इस अपेक्षा से आत्मा 'अस्तित्व-अवक्तव्य' धर्मवाला है। जो ज्ञान इस अपेक्षा से आत्मा को लक्ष में ले, उसे अस्तित्व-अवक्तव्यनय कहा जाता है।

प्रत्येक आत्मा एक समय में अपने अनंत धर्मों का अधिष्ठाता है; उसे पहिचानने के लिये यह वर्णन चलता है। जितने धर्मी जीव हों, उन सबके श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा अनंत धर्मोंवाला आत्मा एकसमान ही होता है। एक धर्मी के श्रद्धा-ज्ञान में अमुक प्रकार का आत्मा हो और दूसरे धर्मी के श्रद्धा-ज्ञान में उससे भिन्न प्रकार का आत्मा हो, ऐसी विविधता नहीं होती। ऐसे आत्मा के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान करने के पश्चात् किसी को उसमें विशेष लीनता हो और किसी को अल्प लीनता हो—इसप्रकार चारित्र में विविधता होती है, परन्तु उसमें विरोधता नहीं होती। हीनाधिकता के कारण विविधता होने पर भी उसकी जाति तो एक ही प्रकार की है; इसलिये उसमें विरोध नहीं है। अनंत ज्ञानियों का अभिप्राय एकसमान ही है। जैसा आत्मा केवली भगवान की श्रद्धा में आया है, वैसा ही आत्मा चौथे गुणस्थान में प्रवर्तमान छोटे से छोटे धर्मी जीव की श्रद्धा में आया है। आत्मा को उसके धर्मों द्वारा पहिचाने, तभी उसकी सच्ची श्रद्धा होती है; इसलिये यहाँ आचार्यदेव ने धर्मों का वर्णन किया है। उसमें सप्तभंगी में से 'अस्तित्व-अवक्तव्य' नाम का पाँचवाँ भंग कहा। अब, छठवाँ भंग कहते हैं : ४७ धर्मों में वह आठवाँ धर्म है:—

[८] नास्तित्व-अवक्तव्य नय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्य नय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपद् स्व-पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है। [यहाँ तीर का दृष्टान्त है वह मूल में देखें।]

अस्तित्व-अवक्तव्य की भाँति यह धर्म भी समझ लेना चाहिए। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म का कथन करने से नास्तित्व आदि का कथन बाकी रह जाता था, इसलिये अस्तित्व-अवक्तव्य धर्म कहा; उसीप्रकार यहाँ 'आत्मा पररूप से नहीं है'—ऐसा नास्तित्वधर्म कहने से 'आत्मा स्व-रूप से है'—ऐसा अस्तित्व का कथन बाकी रह जाता है; नास्तित्व कहा जा सकता है किन्तु दोनों साथ नहीं कहे जा सकते; इसलिये आत्मा 'नास्तित्व-अवक्तव्य' धर्म वाला है।

अब सप्तभंगी का अन्तिम भंग कहते हैं:—

[९] अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपद् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वाला-नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है। [यहाँ तीर का दृष्टान्त है, वह मूल में देखें।]

आत्मा में स्व-रूप से अस्तित्व है, पररूप से नास्तित्व है, यह दोनों धर्म एक के पश्चात् एक कहे जा सकते हैं परन्तु एकसाथ नहीं कहे जा सकते; इसप्रकार आत्मा 'अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य' नाम के धर्मोंवाला है। इस धर्म में तीन शब्द आये, इसलिये उनके वाच्यरूप तीन पृथक् धर्म नहीं समझना चाहिए, परन्तु तीनों के वाच्यरूप एक धर्म है—ऐसा समझना।

इसप्रकार अस्ति, नास्ति आदि सात भंगों का वर्णन पूरा हुआ। ●●●

राग-द्वेष का मूल प्रेरक कौन है ?

[राग-द्वेष का मूल कारण मिथ्यात्व है]

कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है;
पुग्गल करम जोग किंधौं इन्द्रिनिकौ भोग,
किंधौं धन किंधौं परिजन किंधौं मौन है।

❀❀❀

गुरु कहै छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है;
कोऊ दरव काहूकौ न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६१॥

अर्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामी! राग-द्वेष परिणामों का मुख्य कारण (मूल प्रेरक) कौन है ?—पौद्गलिक कर्म है ? इन्द्रियों का भोग है ? अथवा धन है ? घर के लोग हैं ? या घर है ? वह आप कहिए।

वहाँ श्रीगुरु समाधान करते हैं कि—छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में सदैव निजाश्रित परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसी द्रव्य की परिणति के लिये कभी भी प्रेरक नहीं होता; इसलिये राग-द्वेष का मूल कारण मोह-मिथ्यात्वरूपी मदिरा-पान है।

(उपरोक्त सवैया-काव्य की रचना पं. बनारसीदासजी ने समयसार कलश २१९ पर से की है।) [देखो, समयसार-नाटक, पृष्ठ ३५१-५२]

मूरख जीव को श्रीगुरु का उपदेश

[अज्ञानियों के विचार में राग-द्वेष का कारण]

कोऊ मूरख यों कहै, 'राग-द्वेष परिनाम,
पुग्गल की जोरावरी, वरतै आतमराम॥६२॥
ज्यों ज्यों पुग्गल बल करै, करि करि कर्मज भेष;
राग-दोष को परिनमन, त्यों त्यों होई विशेष'॥६३॥

[अज्ञानियों को सत्यमार्ग का उपदेश]

इहि विधि जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोई;
सो नर राग विरोध सौं, कबहुँ भिन्न न होई॥६४॥
सुगुरु कहैं जग में रहे, पुग्गल संग सदीव;
सहज सुद्ध परिनमनि को औसर लहै न जीव॥६५॥
तातैं चिदभावनि विषै, समरथ चेतन राउ;
रागविरोध मिथ्यात्व मैं, समकित मैं सिव भाउ॥६६॥

अर्थ—कोई-कोई मूर्ख कहते हैं कि 'आत्मा में राग-द्वेषभाव, पुद्गल की बलजबरी से होते हैं; और वे कहते हैं कि कर्मरूप परिणमन के उदय में पुद्गल ज्यों-ज्यों जोर करता है, त्यों-त्यों बाहुल्यता से (विशेषरूप से) राग-द्वेष परिणाम होते हैं।'

श्रीगुरु कहते हैं कि जो इसप्रकार विपरीत हठ ग्रहण करके श्रद्धा करता है, वह कभी भी राग-द्वेष-मोह से नहीं छूट सकता; क्योंकि जगत में पुद्गल का संग तो सदैव रहता है, इसलिये (यदि पुद्गल बलजबरी से राग-द्वेष करता हो तो) जीव सहज शुद्ध परिणमित होने का अवसर कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये चैतन्यभाव को उत्पन्न करने में चेतन राजा ही समर्थ है; वह मिथ्यात्व की दशा में तो राग-द्वेष भाव उत्पन्न करता है और सम्यक्त्वदशा में शिवभाव अर्थात् ज्ञान-दर्शन-सुख आदि की उत्पत्ति करता है।

(यहाँ दिये हुए पाँच दोहों की रचना पं. बनारसीदासजी ने समयसार कलश २२०-२२१ पर से की है।)

[देखो, समयसार-नाटक पृष्ठ ३५२-३५४]

सोनगढ़ में पर्यूषण-पर्व

इस वर्ष सोनगढ़ में पर्यूषण पर्व धूमधाम से मनाया गया। १० दिन तक प्रतिदिन पूज्य स्वामीजी ने उत्तमक्षमादि दस धर्मों पर प्रवचन किए थे। उन प्रवचनों में जैनधर्म क्या है ?—सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं ? सच्चे देव-गुरु-का भक्त—जैन कैसा होता है ? वास्तव में सर्वज्ञ को माना कब कहा जाता है ?—इत्यादि विषयों का सुन्दर विवेचन-स्पष्टीकरण पूज्य स्वामीजी ने सरल एवं मार्मिक भाषा में किया था। वे बार-बार कहते थे कि दिगम्बर जैनधर्म ही सच्चा जैनधर्म है और यही जैनधर्म का सच्चा पर्यूषण है।

दस दिन तक मंदिरजी में प्रतिदिन दशलक्षण-धर्म आदि की सामूहिक पूजन होती थी। भाद्रपद शुक्ला ६ के दिन श्री शास्त्रजी की रथयात्रा निकली थी; तदुपरांत शुक्ला दसवीं के दिन 'सुगंध-दशमी' का पर्व विशेष उल्लासपूर्वक मनाया गया था। श्री जिनमंदिर में अभिषेक सहित दस पूजन, दस स्तोत्र तथा 'भक्ति' की गई थी और विधिपूर्वक सर्वमंदिरों में धूप-क्षेपण किया गया था। शुक्ला ११ 'रविवार' के दिन अभिषेक-पूजनादि की अनेक विधियाँ हुई थीं। अन्तिम दिनों में रत्नत्रय, सोलहकारण आदि पूजाएँ विधिपूर्वक हुई थीं। भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी—अनंत चौदस भी धामधूम से मनाई गई थी। प्रात:काल शास्त्रजी की रथयात्रा, मध्याह्न को स्वाध्याय, सायंकाल २४ तीर्थंकरों की तथा रत्नत्रय की पूजादि के कार्यक्रम रखे गये थे। आश्विन कृष्णा प्रतिपदा के दिन उत्तमक्षमा वाणी पर्व मनाया गया था। उस दिन जिनमंदिर में १०८ कलशों द्वारा असाधारण भक्तिपूर्वक श्री सीमंधर भगवान का महा-अभिषेक हुआ था; अभिषेक का भव्य दृश्य देखकर भक्तों के हृदय आनंद से नाच उठते थे। दोपहर को समस्त मुमुक्षुसंघ ने मिलकर पूज्य स्वामीजी के समक्ष भक्तिपूर्वक क्षमायाचना की थी और जिनमंदिर में भी श्री सीमंधरनाथ के सन्मुख क्षमावाणी प्रसंग की भक्ति की थी। आज के दिन परस्पर क्षमावाणी का भव्य दृश्य चारों ओर दृष्टिगोचर होता था। इसप्रकार अत्यन्त उत्साहपूर्वक सोनगढ़ में दशलक्षण पर्व का महोत्सव मनाया गया था।

इस दशलक्षण पर्व में तपश्चरण भी खूब हुआ था। पोरबंदर वाले श्री प्राणजीवनभाई की पुत्री विद्या बहिन ने दस तथा राजकोट वाले पारेख प्रभुदासभाई की पुत्री चंचल बहिन ने छह उपवास किये थे। प्रोषधोपवास, तीन उपवास, दो उपवास भी अनेक भाई-बहिनों ने किये थे।

वास्तव में, वर्तमान में परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के महान प्रभाव से सोनगढ़ से सनातन दिगम्बर जैनधर्म की जो महान प्रभावना हो रही है, वह इसकाल में अद्वितीय है। भारत के मुमुक्षु जीवों पर स्वामीजी का अपार उपकार है।

श्री समयसार की छट्ठी-सातवीं गाथा में आ जाने वाले—

व्यवहारनय के चार प्रकार

और

निश्चय के आश्रय से उनका निषेध

[श्री समयसार गाथा ६-७ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से। वीर सं. २४७६ अषाढ़ शुक्ला १० से १५]

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥६॥
नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव॥६॥

इस छट्ठी गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा ज्ञायकभाव है, वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। यहाँ ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है—ऐसा कहकर, पर्याय में कुछ रागादिभाव होते हैं उनका निषेध किया है; इसलिये जीव की पर्याय में कुछ रागादिभाव हैं—ऐसा व्यवहार इसमें अवश्य आ जाता है; परन्तु ज्ञायकस्वभाव का आश्रय कराने के लिये उसका निषेध है। इस छठवीं गाथा में तीन प्रकार के व्यवहार का निषेध करके ज्ञायकभाव बतलाया है। चौथे प्रकार के व्यवहार का निषेध सातवीं गाथा में करेंगे।

(१) उपचरित असद्भूत व्यवहार और उसका निषेध

ज्ञायकभाव, शुभाशुभभावोंरूप परिणमित नहीं होता—ऐसा कहा है, वह निश्चय है, और पर्याय में जो व्यक्त रागादि ज्ञात होते हैं, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार है। अपने ज्ञान में जो पुण्य-पाप के भाव ज्ञात होते हैं और यह भाव मेरे हैं—ऐसा ख्याल में आता है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार है। राग, आत्मा का है—ऐसा जानना, उसे उपचरित असद्भूत व्यवहारनय कहकर ऐसा समझाते हैं कि निश्चय से वह राग तेरा स्वरूप नहीं है, तेरे अनारोप ज्ञायकभाव में राग नहीं है।

(२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार और उसका निषेध

जहाँ, अल्पज्ञ के ख्याल में न आ सके—ऐसा स्थूल विकार है, वहाँ अल्पज्ञ के ख्याल में न आ सके—ऐसा सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वक का विकार भी है; उसे जीव का कहना, सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है अर्थात् परमार्थतः वह जीव का स्वरूप नहीं है। ज्ञायकभाव, प्रमत्त या अप्रमत्त नहीं है—ऐसा कहा उसमें अबुद्धिपूर्वक के राग का भी निषेध आ जाता है। प्रमत्तदशा के समय (छट्ठे गुणस्थान में) बुद्धिपूर्वक का राग है और उस समय अबुद्धिपूर्वक का राग भी है। ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है—ऐसा कहकर दोनों प्रकार के राग का निषेध किया है। इसप्रकार छट्ठी गाथा के पहले पद में उपचरित असद्भूत व्यवहार और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार—इन दोनों का निषेध आ जाता है। समयसार की रचना बहुत गम्भीर है!

सम्यक् और मिथ्या नयों का लक्षण

पंचाध्यायीकार सम्यक् और मिथ्या नयों का लक्षण बतलाते हुए ५६१ वीं गाथा में कहते हैं कि जो नय 'तद्गुणसंविज्ञान' अर्थात् वस्तु के अपने भाव को बतलाने वाला हो, वह सम्यक् नय है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्ध बतलाये, उसे तो वहाँ नयाभास कहा है; क्योंकि पर के भाव को अपना कहने से क्या साध्य है? व्यवहार से भी आत्मा, पर का तो कर्ता नहीं है। व्यवहार से आत्मा, राग का कर्ता है, क्योंकि राग अपनी पर्याय का भाव है; इसलिये उसमें 'तद्गुणसंविज्ञान' लागू होता है।

'असद्भूत व्यवहार' क्या बतलाता है?

तेरे द्रव्य की प्रभुता में तो विकार नहीं है, परन्तु पर्याय में विकार है। असद्भूत व्यवहार से उस विकार को जीव का कहकर ऐसा बतलाया है कि तेरी पर्याय में जो विकार होता है, वह कोई दूसरा नहीं कराता, परन्तु उसमें तेरी पर्याय की प्रभुता है—ऐसा तू जान; विकार होने की योग्यता तेरी पर्याय की है। उस विकार को 'असद्भूत व्यवहार' कहते ही उसमें यह बात आ गई कि निश्चय से वह तेरा स्वरूप नहीं है। चैतन्य के स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिये वह 'असद्भूत' है, और अपनी पर्याय में ऐसा भेद पड़ता है, इसलिये वह 'व्यवहार' है। इसप्रकार, पर्याय में राग है उसे जानकर स्वभाव में उसका निषेध करने के लिये उसे 'असद्भूत व्यवहार' कहा है। वहाँ जो व्यक्त राग है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार है और जो अव्यक्त राग है, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है।

असद्भूत व्यवहार से विकार को जीव का कहकर विकार में अपनी पर्याय की प्रभुता बतलाई है अर्थात् अपनी पर्याय स्वतंत्ररूप से विकार करती है—ऐसा बतलाया है, और द्रव्य के त्रिकाली स्वभाव में उसका निषेध किया है। असद्भूत व्यवहार से विकार जीव का है—ऐसा जो समझे, वह जीव विकार का कारण पर को नहीं मानता, और विकार को अपना परमार्थरूप नहीं मानता। विकार को असद्भूत व्यवहार से जीव का कहते ही उसमें यह दोनों बातें आ जाती हैं कि निश्चय से विकार, जीव का स्वरूप नहीं है और परवस्तु, जीव का विकार नहीं कराती। विकार की योग्यता अपनी वर्तमान पर्याय जितनी है; इसलिये उसे व्यवहार कहकर निश्चयस्वभाव में उसका निषेध किया है। आत्मा, पर का करे—ऐसा तो कोई नय ही नहीं है; इसलिये उसके निषेध की भी बात यहाँ नहीं की है।

पर्याय में विकार का अस्तित्व है, उस व्यवहार का ज्ञान कराके, वह विकार छुड़ाने के लिये निश्चय-स्वभाव के आश्रय से उसका निषेध

श्री पंचास्तिकाय की २७ वीं गाथा में कहते हैं कि आस्रव-बंधरूप से या संवर-निर्जरा-मोक्षरूप से परिणमित होने में आत्मा ही प्रभु है; आत्मा स्वतंत्ररूप से उस पर्यायरूप परिणमित होता है, कोई दूसरा उसे बलात् परिणमित नहीं करता। ज्ञानप्रधान कथन में द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान कराने के लिये ऐसा कहा है कि विकाररूप आत्मा ही परिणमित होता है। परन्तु वहाँ यह बात समझ लेना चाहिए कि वह कथन असद्भूत व्यवहारनय से है।

यहाँ द्रव्यदृष्टि कराने के लिये कहते हैं कि निश्चय से ज्ञायकभाव शुभाशुभ विकाररूप परिणमित ही नहीं होता, इसलिये वह प्रमत्त या अप्रमत्त नहीं है। द्रव्यस्वभाव में विकार का निषेध किया है कि आत्मा, विकाररूप होता ही नहीं। वह निषेध कब किया? यदि पर्याय में विकार बिल्कुल होता ही न हो तो उसका निषेध करने की भी आवश्यकता न रहे। साधक जीव स्वयं पर्याय में अल्प विकाररूप परिणमित होता है; इसलिये उसका स्वभाव के आश्रय से निषेध किया है। व्यवहार से अपनी पर्याय में विकार होने की प्रभुता है अर्थात् विकाररूप से आत्मा परिणमित होता है—ऐसा असद्भूत व्यवहारनय से जानकर निश्चय से उसका निषेध किया है। कोई पर संयोग विकार नहीं कराते और न आत्मा पर संयोगों में कोई फेरफार कर सकता है अर्थात् पर में तो आत्मा की प्रभुता नहीं है; इसलिये पर का निषेध करना नहीं रहता। जो अपनी पर्याय की प्रभुता से करता हो, उसका निषेध किया जा सकता है। पर कराता हो तो उसे रोका नहीं जा सकता। विकार में

आत्मा की एकसमय पर्यंत की पर्याय की प्रभुता है, और द्रव्य की प्रभुता त्रिकाल है, उसमें विकार नहीं है। विकार में आत्मा की प्रभुता है—ऐसा असद्भूत व्यवहार से ज्ञान कराके द्रव्य की प्रभुता में उसका निषेध किया है। तू ज्ञायस्वभाव को लक्ष में ले, पर्याय पर से अपना लक्ष हटा ले। परमशुद्ध ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि करने से पर्याय में शुद्धता होगी। तेरी पर्याय में तेरे अपराध से विकार होता है; इसलिये उसे व्यवहार कहा है, परन्तु तेरा परमार्थस्वरूप बतलाने के लिये उसका निषेध करते हैं। विकार अपनी पर्याय है; इसलिये उसे व्यवहार कहकर—अभूतार्थ मानकर—उसका निषेध किया है, परन्तु पर का निषेध नहीं किया क्योंकि पर के साथ तो आत्मा को कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। स्वभाव को चूककर अपनी पर्याय में स्वयं विकार करता है और स्वभाव के लक्ष से स्वयं उसे दूर करता है।

समस्त अध्यात्म के मूल इस समयसार में स्थित हैं।

कुम्भार घड़ा बनाता है या आत्मा देह की क्रिया करता है, इस बात को तो यहाँ नयाभास में गिना है। आत्मा पर का तो कर्ता नहीं है; इसलिये उसके निषेध की बात नहीं की। आत्मा व्यवहार से राग करता है, इसलिये उस व्यवहार का निषेध कराया है। हे भाई! निश्चय से तू ज्ञायकस्वरूप है, तेरे ज्ञायकस्वरूप में राग नहीं है; उस ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कर तो पर्याय में होनेवाले विकार का निषेध हो जायेगा।

यहाँ तो स्वयं अपने में ही नय लिये हैं। अपने में त्रिकाली स्वभाव मुख्य और अवस्था गौण, अर्थात् स्वभाव, वह निश्चय और अवस्था, वह व्यवहार—ऐसे निश्चय-व्यवहार लिये हैं। परन्तु स्व, सो मुख्य और परद्रव्य, सो गौण; स्व, सो निश्चय और पर, सो व्यवहार—ऐसा यहाँ नहीं लिया। इसप्रकार प्रथम अपने में ही नय समझाकर, विकार से स्वभाव का भेदज्ञान कराके, पश्चात् पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध कैसा होता है, वह बतलाने के लिये दूसरे व्यवहार की बात करेंगे। यहाँ 'ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है'—ऐसा कहकर अपनी पर्याय में होनेवाले दो प्रकार के असद्भूत-व्यवहार का निषेध किया है।

(३) उपचरित सद्भूत व्यवहार और उसका निषेध

छठवीं गाथा में 'ज्ञातो यः स तु स चैव'—ऐसा कहा, उसमें व्यवहारनय के तीसरे प्रकार का—उपचरित सद्भूतव्यवहार का निषेध आया। वास्तव में ज्ञान तो ज्ञान ही है, ज्ञान में ज्ञान ही ज्ञात होता है, तथापि 'ज्ञान पर को जानता है'—ऐसा कहकर पर की अपेक्षा से ज्ञान को बतलाना,

वह उपचरित सद्भूत व्यवहार है। राग, जीव का है—ऐसा कहना, वह तो असद्भूत व्यवहार है, और ज्ञान, राग को जानता है—ऐसा कहना, वह उपचरित सद्भूत व्यवहार है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है—यह निश्चय है। राग को जानते समय भी ज्ञान तो ज्ञानरूप से ही रहा है, वह रागरूप नहीं हो गया है। ज्ञान, पर को जानता है अर्थात् पर का ज्ञान होता है—ऐसा कहना, सो उपचरित सद्भूत व्यवहार है। निश्चय से पर का ज्ञान नहीं है, ज्ञान में पर ज्ञात नहीं होता, ज्ञान तो ज्ञान ही है; निश्चय से परालम्बन की अपेक्षा भी ज्ञायक आत्मा को नहीं है। इसप्रकार ज्ञायक तो ज्ञायक ही है—ऐसा कहने से व्यवहार के तीसरे प्रकार का निषेध हो गया।

इसप्रकार (१) उपचरित असद्भूत व्यवहार। (२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार और (३) उपचरित सद्भूत व्यवहार—यह तीन प्रकार का व्यवहार और ज्ञायकभाव के आश्रय से उन तीनों का निषेध छठवीं गाथा में आ गया।

अब, व्यवहारनय का चौथा प्रकार 'अनुपचरित सद्भूत व्यवहार' है; यह व्यवहार का अन्तिम से अन्तिम और सूक्ष्म प्रकार है; व्यवहाररूप से यह उच्च में उच्च नय है, इसका निषेध सातवीं गाथा में आयेगा।

ज्ञायक आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है—ऐसा कहकर उपचरित असद्भूत और अनुपचरित असद्भूत—ऐसे दोनों प्रकार के स्थूल व्यवहारनयों को तो प्रथम ही उड़ा दिया; और फिर 'ज्ञातो यः स तु स चैव'—ऐसा कहकर व्यवहारनय के तीसरे प्रकार को (उपचरित सद्भूत व्यवहार को) उड़ा दिया। अब, 'आत्मा ज्ञायक है'—ऐसे गुणगुणी भेदरूप सबसे अन्तिम सूक्ष्म अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय बाकी है, उसका भी निषेध सातवीं गाथा में किया है। इस व्यवहार का निषेध करने से निश्चय आता है, अर्थात् राग, पर्याय या गुणगुणी भेद—इन सब का लक्ष छोड़कर एकरूप ज्ञायक आत्मा को लक्ष में लेना, सो निश्चय है।

प्रभु! तेरी प्रभुता का अधिकार तुझमें है, पर में तेरी प्रभुता नहीं है; अपनी प्रभुता को तू अपने में ही देख। तेरे द्रव्य की त्रिकाली प्रभुता में तो विकार नहीं है, परन्तु क्षणिक पर्याय की प्रभुता से तू विकार करता है; इसलिये तेरे द्रव्य की प्रभुता बतलाकर उस विकार का निषेध करते हैं। तेरे स्वभाव में पर का अभाव तो सहज है ही, और तेरे द्रव्यस्वभाव में विकार का भी अभाव है; यदि तू उस स्वभाव की दृष्टि कर तो विकार का निषेध होता है। इसलिये स्वभावदृष्टि कराके विकार का निषेध कराने की यह बात है।

परवस्तु तो तुझ से सदैव भिन्न ही है; इसलिये उसे दूर या निकट करने के लिये तुझे बिल्कुल बल नहीं लगाना पड़ता। तेरी पर्याय में तेरे विपरीत प्रयत्न से विकारी भाव होते हैं, उनका निषेध तेरे ज्ञायकस्वभाव के बल से होता है।—ऐसा बतलाने के लिये हम विकार को व्यवहार से तेरा कहते हैं। कहीं उसका आश्रय करके रुकने के लिये उसे व्यवहार नहीं कहा है, परन्तु उसका आश्रय छुड़ाकर ज्ञायकस्वभाव का आश्रय कराने के लिये उसे व्यवहार कहा है।

आत्मा ज्ञायक है—वह निश्चय है। निश्चय से आत्मा शुद्ध ज्ञायक है—ऐसा कहते ही उसमें रागादिरूप चारों प्रकार के व्यवहार का निषेध आ गया। राग हो, उसमें व्यवहार से आत्मा की पर्याय की प्रभुता है परन्तु वह राग, जीव का मूलस्वरूप नहीं है; इसलिये उसे असद्भूत व्यवहार कहकर उसका निषेध किया है। अब, ज्ञान में राग ज्ञात होने से किसी को ऐसा प्रश्न हो कि राग का निषेध करने पर भी ज्ञान में राग ज्ञात तो होता है ?—तो कहते हैं कि ज्ञान, राग को जानता है—ऐसा कहना भी व्यवहार है; वास्तव में तो ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है। ज्ञान, राग का नहीं है किन्तु ज्ञान, ज्ञान का ही है—ऐसा निश्चय कहकर उपचरित सद्भूत-व्यवहार का भी निषेध किया है। प्रथम तो पर्याय में उस-उस प्रकार का व्यवहार है—ऐसा जो जाने, वह जीव निश्चय के आश्रय से उस व्यवहार का निषेध करता है। परन्तु पर्याय में व्यवहार है, इतना भी जो न जाने, उसे तो उस व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चय का आश्रय करना और व्यवहार का निषेध करना—कुछ भी नहीं रहता।

छट्ठी गाथा में आत्मा को ज्ञायक कहने से तीन प्रकार के व्यवहार का निषेध हुआ। उसका निषेध करने से 'पर्याय में वह है'—इसप्रकार उस व्यवहार की स्वीकृति आ जाती है; परन्तु निश्चय ज्ञायकभाव की दृष्टि करने से उस व्यवहार का निषेध हो जाता है।

(४) अनुपचरित सद्भूत व्यवहार और उसका निषेध

छट्ठी गाथा में बाकी रहे हुए अनुपचरित सद्भूत व्यवहार का निषेध करने के लिये आचार्यदेव ने सातवीं गाथा ली है। एकरूप शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने पर भी साधक को पर्याय में अभी राग-द्वेष भी रहता है क्योंकि आत्मा में कथंचित् गुण-गुणी भेद है। इस गुण-गुणी भेद को लक्ष में लेना, सो अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। परमार्थतः ज्ञायक तो ज्ञायक ही हैं, उसमें निश्चय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद भी विद्यमान नहीं हैं। गुण-गुणी भेद के लक्ष से अभेद आत्मा का अनुभव नहीं होता, इसलिये उस गुण-गुणीभेदरूप अनुपचरित सद्भूत व्यवहार का भी

निषेध करके एक निश्चय ज्ञायकभाव ही आदरणीय है।—ऐसा बतलाकर आचार्यदेव उस विषय को पूर्ण करेंगे।

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः॥७॥

ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद से आत्मा को पहिचानना भी व्यवहार है। इस गाथा में शुद्ध ज्ञायकभाव बतलाकर उस व्यवहार का भी निषेध किया है। एकरूप ज्ञायकभाव है, वह निश्चय है; उस ज्ञायकभाव में विकार या भेद नहीं हैं, परन्तु पर्याय में विकार और भेद हैं, वह व्यवहार है। उस व्यवहार के चार प्रकार हैं। जिसने निश्चयस्वभाव का आश्रय प्रगट करके उस व्यवहार का निषेध किया है—ऐसे साधक को व्यवहार का यथार्थ ज्ञान होता है।

(१) साधक जानता है कि अभी मेरी पर्याय में विकार होता है। उसमें, जो प्रगट ध्यान में पकड़ा जा सकता है—ऐसे बुद्धिपूर्वक के विकार को आत्मा का जानना, सो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

(२) जिस समय बुद्धिपूर्वक का विकार है, उस समय अपने ध्यान में न आ सके—ऐसा अबुद्धिपूर्वक का विकार भी है; उसे जानना, सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

(३) ज्ञातास्वभाव के भानपूर्वक ज्ञानी, विकार को भी जानता है; वहाँ, 'ज्ञान में विकार ज्ञात होता है'—ऐसा कहना, सो उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। और

(४) साधक को रागरहित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई है तथापि, अभी पर्याय में राग भी होता है; ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा में राग का निषेध हुआ है तथापि, गुणभेद के कारण चारित्र की पर्याय में अभी राग होता है।—ऐसे गुणभेद से आत्मा को जानना, सो अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

'आत्मा ज्ञायक है'—इसप्रकार अभेद आत्मा को लक्ष में लेना, सो निश्चयनय है। उस निश्चय को लक्ष में लेने से उपरोक्त चारों प्रकार के व्यवहार का निषेध हो जाता है। उसमें से पहले तीन प्रकारों का निषेध छट्ठी गाथा में आया और चौथे प्रकार के व्यवहार का निषेध सातवीं गाथा में आया।

आत्मा, पर से तो बिल्कुल भिन्न है, पर के साथ तो उसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा से भिन्न पदार्थों को आत्मा का मानना अथवा आत्मा उनका कुछ करता है—ऐसा मानना, उसे तो नयाभास कहकर मिथ्यानय में ही गिना है। 'तद्गुणसंविज्ञान नयः' अर्थात् वस्तु के अपने भाव को

ही वस्तु का बतलाये उसी को नय गिना है। आत्मा का व्यवहार आत्मा के भाव में होता है, आत्मा से बाहर के पदार्थों में आत्मा का व्यवहार नहीं होता। इसलिये यहाँ, आत्मा में जो विकार होता है, उसे आत्मा जानने को ही अन्तिम से अन्तिम स्थूल व्यवहार गिना है। राग होता है, वह भी आत्मा का अंश है, इसलिये उसमें आत्मा का व्यवहार हो सकता है परन्तु आत्मा, पर का कुछ करे—ऐसा तो आत्मा का व्यवहार नहीं है, वह तो नयाभास है।

'आत्मा को परद्रव्य के संयोग से अशुद्धता आती है'—ऐसा शास्त्र का वाक्य है, वह असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। अपने स्वभाव से आत्मा को अशुद्धता नहीं है, किन्तु परद्रव्य के संयोग पर लक्ष करने से उसकी पर्याय में अशुद्धता होती है। परद्रव्य तो आत्मा से भिन्न ही है, परद्रव्य का संयोग कहीं आत्मा में नहीं आ गया है, परन्तु उसके लक्ष से आत्मा की अवस्था में अशुद्धता होती है; उस अशुद्धता को आत्मा जानना, सो असद्भूत-व्यवहारनय है। और ज्ञायकभाव कभी अशुद्धतारूप परिणमित नहीं होता—ऐसे ज्ञायकभाव को आत्मा जानना, सो निश्चय है। उस निश्चय के आश्रय से अशुद्धतारूप व्यवहार का निषेध हो जाता है, इसका नाम धर्म है। निश्चय स्वरूप के आश्रय से ही धर्म का प्रारम्भ होता है और उसी के आश्रय से साधकदशा में वृद्धि होकर पूर्ण होते हैं।

[इस विषय के प्रवचन का दूसरा सप्ताह अगले अंक में दिया जायेगा।]

वि... क... था

आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विरुद्ध भाव को कोई धर्म कहे तो वह विकथा है।

अनंतबार मनुष्य हुआ, वहाँ भी धर्म के नाम से विकथा ही सुनी। कदाचित् सत्य सुनने को मिला, लेकिन अंतरश्रद्धा नहीं हुई, शुभराग में ही धर्म मानकर अटका, इसलिये उस जीव के लिये तो वह बंधकथा (विकथा) हुई। [समयसार-प्रवचन से]

''वंदित्तु सव्वसिद्धे''

[श्री सिद्ध भगवान को नमस्कार करने की जिम्मेवारी]

'वंदित्तु सव्वसिद्धे'—ऐसा कहकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार के प्रारम्भ में मांगलिकरूप से सर्व सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करते हैं... जिनके पूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगट हो गये हैं और रागादिक का अभाव हुआ है—ऐसे सर्व सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो!

सिद्ध को नमस्कार करनेवाला जीव कैसा होता है? नमस्कार करनेवाले को स्वयं तो पूर्ण ज्ञान विकसित नहीं हुआ है किन्तु अपूर्ण ज्ञान है; क्योंकि पूर्ण ज्ञान विकसित हो जाने के पश्चात् किसी को नमस्कार करना नहीं रहता। अपने को वर्तमान में अपूर्ण ज्ञान होने पर भी पूर्ण ज्ञानी को नमस्कार करते हैं तो वह किसके सन्मुख रहकर करेंगे? अपूर्ण ज्ञान के सन्मुख रहकर पूर्ण ज्ञान का स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ पूर्ण ज्ञान प्रगट होने की शक्ति भरी हो, उसकी सन्मुखता करे, तभी पूर्ण ज्ञान का स्वीकार हो सकता है। मैं अल्पज्ञ होने पर भी सर्वज्ञ का आदर करता हूँ—उन्हें नमस्कार करता हूँ—अपने ज्ञान में उसकी स्थापना करता हूँ; इसप्रकार नमस्कार करनेवाले को स्वयं 'पूर्ण ज्ञान प्रगट होने का आधार कौन है' उसकी दृष्टि हुए बिना पूर्ण ज्ञान को नमस्कार नहीं हो सकता। इसलिये, सर्वज्ञ को नमस्कार करने में वास्तव में तो अपने ज्ञानस्वभाव में ही नमन करना-उन्मुख होना आया।

जो सिद्ध भगवान को नमस्कार करे, उसे यह जानना चाहिए कि उनका परिपूर्ण ज्ञान, इन्द्रियों के अथवा पुण्य-पाप के आधार से विकसित नहीं हुआ है, किन्तु अंतर के अनादि-अनंत ज्ञानस्वभाव के आधार से ही वह ज्ञान विकसित हुआ है। इसलिये मेरे ज्ञान का आधार भी ज्ञानस्वभाव ही है। कोई विकार या निमित्त मेरे ज्ञान का आधार नहीं है। शुभभाव के आधार से ज्ञान विकसित हुआ—ऐसा माने तो पूर्ण होने के पश्चात् वह ज्ञान टिक नहीं सकता, क्योंकि वहाँ शुभराग का तो अभाव है! यदि राग या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान होता हो, तब तो उनका अभाव होने से सिद्ध भगवान के ज्ञान का ही अभाव हो जायेगा! इसलिये जो जीव, राग या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान माने, वह पूर्ण ज्ञानी ऐसे सिद्ध भगवान को सच्चा नमस्कार नहीं कर सकता, अर्थात् वह अपने स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। आत्मा की त्रिकाली ज्ञान-शक्ति के आधार से

ही केवलज्ञान प्रगट होता है—ऐसा समझकर द्रव्यस्वभाव के सन्मुख जाकर प्रतीति करे, उसी ने अनंत सिद्ध भगवन्तों को सच्चा नमन किया है।

इस गाथा में 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' द्वारा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने सर्व सिद्धों को नमस्कार किया है, उसे आज करीब दो हजार वर्ष बीत गये; तब से आजतक विदेहक्षेत्र में प्रत्येक छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ (६०८) सिद्ध नये होते ही रहे हैं; इसलिये जब श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने सिद्धों को वन्दन किया, उस समय सिद्धों की जो संख्या थी, उसकी अपेक्षा इस समय उसमें लाखों सिद्धों की संख्या बढ़ गई है। उन सिद्ध भगवंतों के पुण्य-पाप नहीं है, तथापि सर्वज्ञता टिक रही है; तो वह सर्वज्ञता वस्तुस्वभाव के आधार से प्रगट हुई है और टिक रही है। ऐसे सिद्ध भगवन्तों को वन्दन करनेवाला जीव अपने पुण्य-पापरहित स्वभाव का आदर और विश्वास किए बिना सिद्धों को यथार्थ वन्दन नहीं कर सकता। 'मैं सिद्धों को वंदन करता हूँ' अर्थात् मेरी पर्याय में अल्पज्ञता और राग-द्वेष होने पर भी उसका आदर न करके, मैं पूर्ण वस्तुस्वभाव के सन्मुख जाता हूँ... वस्तुस्वभाव में परिणमित होता हूँ;—इसका नाम स्वभावदृष्टि-द्रव्यदृष्टि है और इसी का नाम सिद्ध को वंदन है।

सर्वज्ञ भगवान को वर्तमान में परोन्मुखता का कोई विकल्प न होने पर भी सर्वज्ञता टिक रही है, तो वह सर्वज्ञता उनके स्वोन्मुखता से ही प्रगट हुई है और टिकी है—ऐसा समझकर जो स्वयं अपने स्वभाव के सन्मुख हुआ, उसने सर्वज्ञ को भावनमस्कार किया। ऐसा नमस्कार मोक्ष का कारण है। देखो, इस नमस्कार की महिमा!! पहले कभी जीव ने ऐसा नमस्कार नहीं किया है।

'एक बार वंदे जो कोई, ताहि नरक पशुगति नहीं होई।'

यहाँ कहा है तदनुसार जानकर जो एकबार भी भगवान को नमस्कार करे, उसे अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी—चार गतियों में परिभ्रमण नहीं होगा।

एकबार भी आत्मा के स्वभाव की यह बात रुच जाने पर, यदि आत्मा चैतन्य मिटकर जड़ हो जाये तो उसकी रुचि बदलती है। अर्थात् न तो आत्मा का चैतन्यस्वभाव मिटकर कभी जड़ होता है और न उसकी रुचि बदलती है। ध्रुव-स्वभाव के आधार से होनेवाली रुचि स्वभाव के साथ निरन्तर बनी रहती है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है। ऐसी रुचि प्रगट होने के लिये स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं।

यहाँ, जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्रगट हो गया है—ऐसे सिद्धों को किसप्रकार नमस्कार होता

है ?—वह बात चल रही है। पूर्ण केवलज्ञानपर्याय अपने को वर्तमान नहीं वर्त रही है और जिन्हें वह दशा वर्तती है, उन्हें अपने ज्ञान में स्वीकार करना है, तो ज्ञान किस ओर उन्मुख होकर वह स्वीकार करेगा ? परसन्मुख देखने से पूर्ण ज्ञान की यथार्थ स्वीकृति नहीं आयेगी। पूर्ण ज्ञान के आधाररूप जो गुणी अर्थात् आत्मस्वभाव, उसके सन्मुख हुए बिना उस पूर्ण ज्ञान का स्वीकार नहीं हो सकेगा। स्वभाव के सन्मुख होकर अपने में अतीन्द्रियज्ञान का अंश प्रगट करे, तभी पूर्ण अतीन्द्रिय ऐसे केवलज्ञान की स्वीकृति होती है और तभी सिद्ध भगवान को सच्चा नमस्कार किया कहलाता है। इसलिये सिद्ध भगवान को नमस्कार करनेवाला जीव, स्वभावसन्मुख साधक हो गया और वह अल्पकाल में सिद्ध होगा। इसप्रकार साधकभाव का प्रारम्भ हो जाये—ऐसे मांगलिक से आचार्य भगवान ने इस समयसार का प्रारम्भ किया है। उस पर आज फिर से-नवमी बार प्रवचन होते हैं।

[श्री समयसार गाथा १ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से]

अर्धश्लोक में मुक्ति का उपदेश

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनंदात्मेत्यहं स्मरे।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ॥२२॥

'मैं चिद्रूप, केवल, शुद्ध, आनंदस्वरूप हूँ'—ऐसा स्मरण करता हूँ; सर्वज्ञ का यह मुक्ति का उपदेश इस अर्धश्लोक से निरूपित होता है।

—तत्त्वज्ञान तरंगिणी

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की
कुछ शक्तियाँ

[२]

चितिशक्ति

चितिशक्ति अजड़त्वस्वरूप है; अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व, वह चितिशक्ति का स्वरूप है।— ऐसी चितिशक्ति आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उछलती है।

पुद्गल जड़स्वरूप है और आत्मा अजड़त्वस्वरूप है; जिसप्रकार जड़स्वरूप पुद्गल में किंचित्मात्र चेतनत्व नहीं है, उसीप्रकार अजड़त्वस्वरूप आत्मा में किंचित् भी अचेतनत्व नहीं है। राग भी परमार्थत: आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा में परिपूर्ण चेतनता है, उसमें राग का या जड़ का अभाव है।—ऐसी आत्मा की चितिशक्ति है।

यह चितिशक्ति आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है; इसलिये आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों चेतनरूप हैं, उसमें जड़ता नहीं है। जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों जड़रूप हैं, उसमें चेतनता नहीं है। आत्मा में जड़ता बिल्कुल नहीं है—ऐसा कहने से जड़ के लक्ष से उत्पन्न हुए भाव भी आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं—यह बात उसमें आ जाती है। चैतन्यमूर्ति आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय—किसी का ऐसा स्वरूप नहीं है कि राग में अटकें। जो राग में अटके, उसे आत्मा की पर्याय नहीं माना है। चैतन्योन्मुख होकर अभेद हो, वही आत्मा की पर्याय है, राग में अटके वह चैतन्य की पर्याय ही नहीं है।

यह तो अंतर की दृष्टि की बात है। जहाँ अंतरस्वभाव में दृष्टि हुई, वहाँ धर्मी जीव राग में अटकता ही नहीं; राग को वह अपना स्वरूप मानता ही नहीं; उसकी दृष्टि तो अखण्ड चैतन्यबिम्ब आत्मा को ही स्वीकार करती है। आत्मा को चैतन्यशक्ति है, वह राग में अटके—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

प्रथम आत्मा की जीवत्वशक्ति बतलाई; उससे आत्मा अनादि-अनंत जीता है। यदि उस

जीवत्व के साथ यह चैतन्यशक्ति न हो तो आत्मा जड़ हो जाये; इसलिये इस चितिशक्ति का पृथक् वर्णन किया है। चितिशक्ति के द्वारा ही आत्मा का जीवत्व ज्ञात होता है। आत्मा चितिशक्ति के कारण सदैव जागृतस्वरूप है। पुद्गल में तो जीवत्व भी नहीं है और चैतन्यता भी नहीं है; आत्मा में जीवत्व है और वह जीवत्व चैतन्यमय है। जीवत्वशक्ति का लक्षण चितिशक्ति है; आत्मा का जीवत्व कैसा है?—चितिशक्तिमय है।—इसप्रकार चितिशक्ति से जीवत्व जाना जाता है और जीवत्व से सम्पूर्ण द्रव्य लक्ष में आता है। समस्त शक्तियों के पिण्डरूप द्रव्य को पहिचानने का लक्षण 'ज्ञान' है, उस ज्ञानमात्रभाव में यह समस्त शक्तियाँ साथ ही परिणमित होती हैं।

आत्मद्रव्य में अनंत शक्तियाँ हैं। यदि एक ही शक्ति हो, तब तो वह शक्ति स्वयं ही द्रव्य हो जाये, इसलिये शक्ति का अभाव हो, और शक्ति का अभाव होने से द्रव्य का भी अभाव हो जाये। अनंत शक्ति के स्वीकार बिना द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

आत्मा की चितिशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में है, अर्थात् द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों चैतन्यस्वरूप हैं। चितिशक्ति के बिना 'जीवनशक्ति जीव की है' - ऐसा कैसे जाना जा सकता है? यदि आत्मा में चितिशक्ति न हो तो आत्मा जड़ हो जाये और जीवनशक्ति भी जड़ की हो जाये। इसलिए आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से ऐसी चितिशक्ति भी साथ ही आ जाती है।

अनंत शक्ति बतलाकर यहाँ आत्मा की महिमा बतलाई है। चैतन्यमूर्ति जागृतज्योति आत्मा के सन्मुख देखने के लिये इन शक्तियों का वर्णन है। जिस प्रकार लड़की को दिया हुआ दहेज लोगों को बतलाने के लिये खोल कर रखते हैं, वहाँ वास्तव में तो लड़की की जाहिरात होती है कि 'यह दहेज इस लड़की का है।' परन्तु यदि वह लड़की ही मर गई हो तो दहेज किसका? उसी प्रकार यहाँ जो शक्तियों का वर्णन है, वह सब जीव का दहेज है, जीव की रिद्धि है, वह जीव की जाहिरात करता है। इन शक्तियों द्वारा यदि इन्हें धारण करनेवाले जीव को न पहिचाने और उसे जड़ ऋद्धिवाला या रागवाला ही माने तो उस जीव ने चैतन्यमय जीव को मरा हुआ माना है, अर्थात् उसे शुद्ध अनंतशक्तिसम्पन्न जीव की श्रद्धा नहीं है। जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि शक्तियाँ हैं, वे तो जीते-जागते जीव की जाहिरात करती हैं। जीव के बिना शक्तियाँ किसकी? शुद्ध जीव की प्रतीति के बिना इन शक्तियों की पहिचान नहीं होती।

पहले जीवत्वशक्ति में कहे थे, उन पाँच बोलों को यहाँ भी लागू करना कि यह चितिशक्ति किसी पर के, विकार के, पर्याय के या एक-एक शक्ति के आश्रित नहीं है, इसलिये उन किसी के

समक्ष देखने से इस शक्ति की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती परन्तु अनंत धर्मों के पिण्डरूप आत्मा के आश्रय से ही यह शक्ति टिकी है, इसलिये उसके समक्ष देखकर ही इस शक्ति की यथार्थ स्वीकृति हो सकती है।

अनंतानंत शक्तियों के पिण्डरूप चैतन्यतत्त्व है; वह किसी निमित्त से या राग से नहीं जाना जाता परन्तु चैतन्य प्रकाश से जाना जाता है। राग तो अंध है, उसमें चितिशक्ति नहीं है; आत्मा अपनी चितिशक्ति द्वारा सदैव जागृत—स्व-पर प्रकाशक है।

देखो, आत्मा की अनंत शक्तियों में कहीं भी बाह्यक्रिया या व्यवहार का शुभराग नहीं आता; आत्मा की अनंत शक्तियों में उनकी तो कोई गणना ही नहीं करते। अज्ञानी कहते हैं कि—'देखो, हमारी क्रिया! देखो, हमारा व्यवहार!—यह करते-करते कितना धर्म होता है!' ज्ञानी उनके व्यवहार का उपहास करते हैं कि अरे, चल रे चल! देखी तेरी क्रिया, और देखा तेरा व्यवहार! आत्मा के स्वरूप में उनका अस्तित्व ही कौन मानता है? तेरी मानी हुई शरीर की क्रिया तो जड़ है, उसका आत्मा में नितान्त अभाव है और क्षणिक रागरूप व्यवहार की वृत्ति भी चैतन्य का स्वभाव नहीं है; इसप्रकार तेरी मानी हुई क्रिया का और व्यवहार का अस्तित्व ही आत्मस्वभाव में नहीं है; तब फिर उससे आत्मा का धर्म होने की बात ही कहाँ रही?

यहाँ तो आत्मा में त्रिकाल रहनेवाली आत्मा की शक्तियों का वर्णन है; उसमें एक-एक शक्ति के समक्ष देखने से भी धर्म नहीं होता, तब फिर शरीर की क्रिया से या राग से धर्म हो यह बात कैसी? समस्त शक्तियाँ आत्मा के आश्रित विद्यमान हैं, उस आत्मा के आश्रय से ही धर्म होता है।

यह जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि समस्त शक्तियाँ आत्मा में भावस्वरूप हैं; इन समस्त शक्तियों का एकरूप पिंड, सो आत्मद्रव्य है। चितिशक्ति चेतनद्रव्य को बतलानेवाली है, परन्तु रागादि करनेवाली नहीं है। राग में चेतनता नहीं है, इसलिये चितिशक्ति तो आत्मा में राग का अभाव बतलाती है। आत्मा अजड़त्वस्वरूप अर्थात् परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप है—ऐसा कहा, उसमें पर का, विकार का और अल्पज्ञता का आत्मा के स्वभाव में से निषेध हो ही गया।—आत्मा की अनंत शक्तियों में ऐसी एक चितिशक्ति है। आत्मा को पहिचानकर उसके आश्रय से ज्ञानमात्रभाव का परिणमन होने पर यह शक्ति भी उसमें साथ ही परिणमित होती है। अखण्ड आत्मा के आश्रय से उसकी समस्त शक्तियाँ एक साथ ही परिणमित होती है। उनमें से दूसरी चितिशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।●●

भवभ्रमण क्यों न मिटा ?

'रागमात्र मैं नहीं हूँ, शुभभाव भी आत्मस्वभाव को सहायक नहीं है'—ऐसी समझ के बिना मात्र पुण्य-क्रिया की, और उससे अनंतबार नवमें ग्रैवेयक तक जो जीव गया, उसकी श्रद्धा व्यवहार से तो अत्यन्त पवित्र है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यवहारशुद्धि के बिना नवमें ग्रैवेयक तक नहीं पहुँचा जा सकता परन्तु अंतर में उस जीव को परमार्थश्रद्धान नहीं था, इसलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

एक बार सत्यश्रद्धा करने से, भेदज्ञानज्योति द्वारा सर्व परद्रव्य और परभावों से मुक्ति होती है। एक बार स्वतंत्र स्वसमय को माने तो संसार न रहे। सम्यग्ज्ञान क्या है, वह जीव ने अनंतकाल में नहीं जाना, और अज्ञानभाव से धर्म के नाम पर पापों को कम करके पुण्यबंध किया, परन्तु उससे धर्म नहीं हुआ और भवभ्रमण बना रहा।

नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले अज्ञानी जीव को व्यवहार से श्रद्धा-ज्ञान और शुभप्रवृत्ति होती है, बाह्य से नग्न दिगम्बर मुनिपना होता है, पंचमहाव्रत का पालन सावधानीपूर्वक होता है; परन्तु अन्तर में, 'मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा पर से निराला हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित हूँ, मुझे किसी पर का आश्रय है ही नहीं'—ऐसी स्वावलम्बी तत्त्वश्रद्धा नहीं है; इसलिये उस जीव का भवभ्रमण दूर नहीं होता। [—समयसार प्रवचन से]

आवश्यक-निवेदन

पत्र-व्यवहार करने वाले महानुभावों से निवेदन है कि पत्र-व्यवहार करते समय अपना पता साफ-साफ अंग्रेजी में लिखें!

—व्यवस्थापक आत्मधर्म
जैन स्वाध्याय-मंदिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी-प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें !

समयसार प्रवचन – भाग १	६-०-०
समयसार प्रवचन – भाग २	५-०-०
समयसार प्रवचन – भाग ३	४-८-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें	१-६-०
दसलक्षणधर्म	०-१२-०
सम्यग्दर्शन	२-८-०
भेदविज्ञानसार	२-०-०
मूल में भूल	०-१२-०
मुक्ति का मार्ग	०-१०-०
आत्मधर्म की वार्षिक फाइलें	३-१२-०

(डाक व्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये

जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया